वैकल्पिक शिक्षा की दुविधा

*शंकर शरण**

भारत में औपरिवेशिक शिक्षा या मैकॉलेवादी शिक्षा को लेकर असंतोष और बहस बड़ी पुरानी है। जहाँ राष्ट्रवादी मनीषियों ने इसे समूल त्याग कर राष्ट्रीय शिक्षा की स्थापना करने की आवश्यकता पर बल दिया, वहीं अनेक बुद्धिजीवियों और नीतिकारों ने उसी शिक्षा के सकारात्मक पहलुओं की आवश्यकता पहचानने को रेखांकित किया। यह बहस आज किस स्थिति में है, प्रस्तुत निबंध में इसकी झलक मिलती है। इससे स्पष्ट होता है कि किसी स्थिति की आलोचना करना जितना सरल होता है उसका उपयुक्त विकल्प तैयार करना उतना ही कठिन। फलत: जो संभ्रम और दुविधा वैकलिपक शिक्षा का प्रयास करने वालों में आ जाती है, यह उसका एक आकलन है।

भारत में वर्तमान शिक्षा-पद्धति में सभी असंतुष्ट हैं। किंतु क्या इसका कोई सार्थक, कारगर और स्वीकार्य विकल्प है? इस का उत्तर भारी ऊहा-पोह से ग्रस्त है। 12-14 जून 2007 तक बोधिग्राम, मसूरी में सोसाइटी फॉर इंटीग्रेटेड डवलपमेंट ऑफ हिमालयाज 'सिद्ध' द्वारा 'शिक्षा आधुनिकता और विकास' विषय पर आयोजित संगोष्ठी से कुछ यही निष्कर्ष झलका। इस संगोष्ठी में देश भर से अनेक शिक्षा-शास्त्री, शिक्षाकर्मी, शिक्षक तथा अत्यंत अनुभवी और सम्मानित स्वयंसेवी भी शामिल हुए। इन गणमान्य भागीदारों में सुप्रसिद्ध तिब्बती और एसोसिएशन ऑफ इंडियन यूनिवर्सिटीइज के पूर्व अध्यक्ष प्रो. सामधोंग रिनपोछे, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद के निदेशक प्रो. कृष्ण कुमार, राष्ट्रीय ओपन स्कूल संस्थान के अध्यक्ष प्रो. एम.जी. पंत, सुप्रसिद्ध गाँधीवादी कार्यकत्री राधा बहन, झारखंड की पुरस्कृत शिक्षाकर्मी डॉ. विजयम कर्था, कृष्णमूर्ति फाउंडेशन की प्रो. गीता अय्यन, आदि शामिल थे। आधुनिक विकास की बिडंबनाओं और शिक्षा की चुनौतियों पर गंभीरता से विचार करने वाले लगभग सभी लोग मानते

---

*प्रवक्ता, डी.ई.आर.पी.पी. एन.सी.ई.आर.टी. नई दिल्ली

हैं कि आज की शिक्षा सार्वजनिक कल्याण की चिंता कम करती है, निजी उन्नति की लालसा और प्रेरणा अधिक देती है।

किंतु समस्या यहीं तक सीमित नहीं है। यह शिक्षा लोगों में वैयक्तिक रूप से सुखी होने की चाह तो बढ़ाती है, किंतु उसका कोई सुसंगत मार्ग दिखाने में नितांत विफल रहती है। इसलिए सभी लोग दुविधा में हैं। वे भी जो पारंपरिक आधुनिक या अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली को चला रहे हैं, और वे भी जो इसके स्थान पर किसी विकल्प की खोज में लगे हुए हैं। साथ ही, यह दुविधा जितनी वैकल्पिक शिक्षा की तलाश करने वालों में है, उतनी ही उन स्थानीय ग्रामवासियों को भी जो वर्तमान स्कूली शिक्षा से असंतुष्ट हैं।

मसूरी क्षेत्र में गाँव के लोग अनौपचारिक विचार-विमर्श में 'सिद्ध' के संचालकों से कहते हैं, "क्या शिक्षा है तुम्हारी! वह तो गाँव के लोगों को शहर में, और शहर के लोगों को विदेश में फिट करने का काम करती है। हमारे गाँवों का क्या होगा?" वे मानते हैं कि चालू स्कूली शिक्षा प्रायः लड़कों को निकम्मा, व्यर्थ का अहंकारी बना देती है। वह 'न घर के, न घाट' के रहते हैं। अपने समाज और तरीकों से कटते जाते हैं। वैसे लड़के खेती-बारी जैसे पारंपरिक काम में हाथ तो बँटाते नहीं, बस जेब में हाथ डाले घूमते रहते हैं। उलटे अपने गरीब, अशिक्षित माता-पिता से सीधे मुँह बात करना भी बंद कर देते हैं। यह विडंबना गाँव के लोग रोज स्वयं देखते, भोगते हैं। फिर भी वही ग्रामवासी उसी स्कूली शिक्षा से मुँह मोड़ नहीं पाते। उल्टे, उनके बच्चों को विशेषकर अंग्रेजी की शिक्षा अवश्य मिले, इसकी चाह रखते हैं।

आधुनिकता और विकास से झुँझलाहट, फिर भी उसी की चाह – यही द्वंद्व इस संगोष्ठी का मूल विषय था जिसे समापन सत्र में 'सिद्ध' के निदेशक पवन कुमार गुप्ता ने सशक्त रूप से रखा। वस्तुतः गोष्ठी के विषय 'शिक्षा, आधुनिकता और विकास' का संदर्भ समापन सत्र में ही पूरी तरह स्पष्ट हुआ। अनुराधा जोशी ने स्थानीय ग्रामीण महिलाओं के साथ लंबे आदान-प्रदान, और प्रत्यक्ष शोध के आधार पर उनका द्वंद्व पहचाना है। अपना कर्म-मार्ग स्पष्ट समझ पाने का द्वंद्व। विशेषकर स्कूल और संयुक्त परिवार संबंधी। महिलाएं स्कूल चाहती भी हैं, पर उसके परिणामों से असंतुष्ट भी हैं। क्योंकि यह उनके बच्चों को पाखंडी, अशिष्ट मिथ्याचारी बना देता है।

इसी प्रकार, गाँवों में आज भी प्रचलित संयुक्त परिवार महिलाओं को अधिक सुविधा, समृद्धि, अवकाश और सुरक्षा देता है। विविध अवलोकनों में पाया गया कि एकल परिवार में रहने वाली महिलाओं की तुलना में संयुक्त परिवार में रहने वाली महिलाएँ कम कठिनाइयाँ महसूस करती हैं फिर भी 25-50 के आयु-वर्ग की अधिकांश ग्रामीण महिलाएँ भी अपने एक स्वतंत्र घर का सपना देखती हैं। इस प्रकार आधुनिकताजन्य स्वतंत्रता का आकर्षण एक ऐसा 'मनेर का लड्डू' है, जिसे खाने, न खाने के द्वंद्व में सभी दुविधाग्रस्त हैं। हमारे नीतिकार,

शिक्षाशास्त्री, साधारण जनता तथा वैकल्पिक शिक्षा की खोज में लगे लोग भी।

'सिद्ध' के एक शिक्षक का यह कहना उसी द्वंद्व का उदाहरण है कि आज हृदय से शिक्षक का काम करने वाले नहीं मिलते। वैकल्पिक शिक्षा के प्रयत्न में यह एक बड़ी बाधा है। युवक-युवतियाँ नौकरी के रूप में पढ़ाना स्वीकार करते हैं, वैसे प्रयत्नों से उन्हें सहानुभूति प्राय: मौखिक ही रहती है। जैसे ही उनके सामने कोई अधिक लाभकारी काम उपस्थित होता है, वे फौरन उधर बढ़ जाते हैं। गाँव के लोगों की सेवा, उनका उत्थान जैसे आदर्श तुरंत दम तोड़ देते हैं। इस तरह वास्तव में कोई आदर्शवादी शिक्षक मिल पाना अधिकाधिक कठिन होता जा रहा है।

फिर वैकल्पिक शिक्षा संगठन के बढ़ने से अन्य समस्याएँ भी खड़ी होती हैं। यह वही समस्याएँ हैं जो पश्चिमी तौर-तरीकों पर आधारित किसी भी संगठन के विस्तार और विकास के साथ स्वभावत: उत्पन्न होती हैं, और दुनिया में इसका कोई उपाय नहीं ढूँढा जा सका है। संगठन में आदर्शवाद का घटना और व्यवहारिकता का बढ़ना, अपने पद और सुविधाओं का ऐसा आदी हो जाना कि अधिक योग्य व्यक्ति को भी समुचित स्थान न देना, नेताओं में 'इंद्र-भय' पैदा हो जाना, आदि। इस प्रकार, चाहे कितने भी अच्छे उद्देश्य से संगठन क्यों न बना हो, सफलता और समय के साथ उसमें सत्ता, सुविधा और पद-सोपान की सामान्य समस्याएँ खड़ी हो ही जाती हैं। इससे कार्यकर्ताओं में अवांछित भाव उत्पन्न होने लगते हैं। संगठन और उसके संचालकों की आलोचनाएँ, आक्षेप सुनाई पड़ने लगते हैं। यह सब उसी आधुनिकता और विकास के आकर्षणों का ही रूप है, जिससे संघर्ष करने के लिए वैकल्पिक शिक्षा के प्रयत्न आरंभ होते हैं। इसके साथ-साथ वैकल्पि शिक्षा का प्रयत्न करने वाली स्वयंसेवी संस्थाओं को अनुदान देने वाली देशी-विदेशी एजेंसियों की अपनी राजनीति, पसंद-नापसंद, आग्रह-दुराग्रह आदि भी कार्य और योजनााओं को प्रभावित करते हैं। क्या तब "काम छोड़ दें, और बैठ जाएं, या प्रयत्न जारी रखें?" पवन जी पूछते हैं। इसका उत्तर सरल नहीं है।

अमेरिकी कॉर्नेल विश्वविद्यालय की शोध-छात्रा करुणा मुरारका ने स्थानीय लड़कियों से बातचीत में पाया कि उनका दृष्टिकोण लड़कों से भिन्न हे। लड़के मात्र नौकरी के लिए पढ़ना चाहते हैं। किंतु लड़कियाँ नौकरी मिले या न मिले, इससे निरपेक्ष होकर भी स्कूली पढ़ाई करना चाहती हैं। वह समझती हैं कि जब तक पढ़ाई चलेगी उन्हें विवाह के बाँधे जाने और गृहस्थी की चक्की में जाने से मोहलत मिली रहेगी। फिर शायद पढ़ लेने से विवाह भी कुछ अच्छी जगह हो सकता है, आदि। इस प्रकार ग्रामीण लड़कियों में भी आधुनिकता के प्रति दुविधा है। वे आधुनिक जीवन-पद्धति की अशुभ बातों के प्रति भी अवगत हैं। शहरी जीवन में किसी साधारण गृहस्थ की कठिनाइयाँ, समस्याएँ और खतरे उससे बहुत भिन्न होते हैं जो ग्रामीण परिवेश में होते हैं। जो व्यक्ति गाँव छोड़ शहर

में नौकरी या मज़दूरी करने चला जाता है। उसकी और उसके परिवार की वैसी बहुतेरी सुरक्षाएं छिन जाती हैं, जो गाँव में सहज उपलब्ध रही हैं। लड़कियाँ यह समझती हैं, फिर भी उस शहरी जीवन की चाहना से दूर नहीं रह पातीं जो वर्तमान स्कूली शिक्षा धीरे-धीरे सब में अवश्यमेव पैदा कर देती है।

प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री और राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् (एन.सी.ई.आर.टी.) के निदेशक प्रो. कृष्ण कुमार ने इस समस्या पर अपनी दृष्टि से प्रकाश डाला। उन्होंने कहा कि आधुनिक शिक्षा औपनिवेशिक शिक्षा ही है। क्योंकि यही हमें विरासत में मिली हुई है। हम ने इसे उसी तरह सहज मान लिया है जैसे मछली अपने गिर्द पानी को सहज मानती है। उसके बारे में नहीं सोचती। पर उनके विचार में मुख्य समस्या औपनिवेशिक शिक्षा नहीं, बल्कि औपनिवेशिक राज्य है। इसीलिए हमारी अनेक कठिनाइयों के मूल में राज्य और समाज का द्वंद्व है, जिसे हम दु:खपूर्वक झेलते हैं। शिक्षा के दुश्चक्र में बच्चों का बचपन बहिष्कृत हो गया है, उनका सारा समय स्कूल के भारी काम छीन लेते हैं। किंतु इन समस्याओं को पहचाना जा रहा है और इनसे निपटने के लिए अच्छे प्रयास भी हो रहे हैं। विशेषकर दो वर्ष पहले बनी नई स्कूली पाठ्यचर्या बनने और लागू होने के बाद से यह बहस हो रही है, कि ज्ञान क्या है, कौन इसका निर्माण करता है? मूल समस्या ऐसे ज्ञान का वितरण, विकिरण है जिसने समाज से जन्म नहीं लिया।

सुप्रसिद्ध तिब्बती विद्वान प्रो. सामधोंग रिनपोछे का उदघाटन वक्तव्य भी अत्यंत मूल्यवान था। वे भारतवर्ष की 'सात हजार वर्ष पुरानी शिक्षा-परंपरा' के प्रतिनिधि के रूप में बोले। उन की बातें किसी को भी विचार करने के लिए विवश करती हैं। बौद्ध चिंतन के आधार पर प्रो. रिनपोछे ने शील, समाधि और प्रज्ञा के योग को शिक्षा का वास्तविक अर्थ बताया। फिर इनका अलग-अलग, सारगर्भित, किंतु सरल विवेचन किया। उन्होंने कहा कि यहाँ आज भी शिक्षा की सही समझ है, जिसके कारण ही भारतवर्ष ने अपना अस्तित्व नहीं खोया। बल्कि दुनिया को भी कुछ न कुछ आज भी दे रहा है। उन्होंने कहा कि साइंस उपयोगी हो सकता है, किंतु विद्या वह नहीं है। मान्यताओं से आरंभ कर, इन्द्रिय-जनित प्रयोगों के माध्यम से वह कभी कुछ पा लेता है। फिर इसी क्रम में वह अपनी पिछली स्थिति को अनंतर खंडित भी कर देता है। अत: उसके द्वारा प्राप्त जानकारी सांयोगिक और संदिग्ध रहती है। इसीलिए उसे कई बार बहुत जल्दी-जल्दी संशोधित भी करना पड़ता है। आधुनिक साइंस द्वारा खोजी गई दवाओं की स्थिति से इसे समझा जा सकता है जिन्हें प्राय: कुछ समय बीतने के बाद हानिकारक बताकर प्रतिबंधित ही कर दिया जाता है। इसीलिए साइंस द्वारा प्राप्त चीज उपयोगी हो सकती है, किंतु उसे विज्ञान या विद्या जैसी मूल्यवान संज्ञा नहीं दी जानी चाहिए। विद्या हजारों वर्षों तक संशोधित नहीं होती क्योंकि वह प्रमाणिक, अनुभूत, भावमय ज्ञान है। वहाँ ज्ञेय और ज्ञाता का मिलन हो जाता है।

प्रो. रिनपोछे के अनुसार विभिन्न धर्मों ने इतना अंधविश्वास नहीं फैलाया, जितना साइंस ने फैलाया है। धर्मों का अंधविश्वास तो चिंतन, अवलोकन और अनुभव से टूट भी जाता है, पर साइंस का नहीं टूटता। यह नहीं कि साइंस कोई घटिया या अनुपयोगी चीज है, किंतु स्पष्ट रहे कि उसका विनाशकारी अवदान अधिक है। इसी तरह, पीएचडी, डी.लिट् आदि तक पहुँचकर भी आधुनिक शिक्षा सदाचार, करुणा आदि सद्गुणों में कोई वृद्धि नहीं करती। जबकि भारतीय परंपरा में प्रज्ञा का जागरण ही शिक्षा है जिससे उक्त गुणों में वृद्धि होती है। प्रख्यात समाजशास्त्री ए.के. सरन को उद्धृत करते हुए उन्होंने 'नयापन, आत्म-केंद्रिकता और हिंसा' को ही आधुनिकता का सार बताया। लोभ, काम और भोग के तीन उन्मादों में गाँधीजी का पश्चिमी सभ्यता का मूल्यांकन – 'शैतानी सभ्यता' – जोड़ दें तो प्रो. रिनपोछे के विचार से, आधुनिकता का अर्थ पूरा हो जाता है।

संगोष्ठी में गांधीजी की बुनियादी तालीम का भी बार-बार स्मरण हुआ। राधा बहन (भट्ट) ने पहाड़ों पर उसी प्रेरणा से चल रहे कार्यों और बदलते समय की चुनौतियों का उल्लेख किया। उन्होंने इस पर ध्यान आकृष्ट किया कि स्कूलों में परीक्षा-प्रणाली तथा किसी भी नौकरी के लिए डिग्री या प्रमाण-पत्र की आवश्यकता एक बड़ी बाधा है। यह बाधा वैकल्पिक शिक्षा के प्रयासों को समय के साथ लोकप्रिय बना देती है। यदि यह बाधा दूर हो सके, तो वैकल्पिक विद्यालयों की सहज वृद्धि हो सकती है। तब लोग वैकल्पिक विद्यालयों को वास्तव में विकल्प के रूप में देख सकेंगे।

सेवाग्राम से आए शिवदत्त जी ने वर्धा में बुनियादी तालीम आधारित विद्यालय को पुनर्जीवित करने के प्रयास का विवरण दिया। अपनी जीवंत वक्तृता से संगोष्ठी में उपस्थित सभी लोगों का हृदय छूने में सफल रहे। आधुनिक शिक्षा, राजनीतिक तंत्र, अफसरशाही और आम जन-जीवन से जुड़ी उनकी विसंगतियों का उन्होंने मनोरंजक चित्र खींचा। संगोष्ठी में जाने-माने लेखक नंदकिशोर आचार्य, झारखंड प्रांत में लंबे समय से कार्यरत पुरस्कृत शिक्षा-कर्मी डॉ. विजयम कर्था तथा 'पानी वाले बाबा' के रूप में विख्यात समाजशास्त्री अरुण कुमार की प्रस्तुतियाँ भी प्रभावशाली रही। अन्य महत्वपूर्ण भागीदारी में जीवन विद्या आंदोलन के रण सिंह आर्य, राष्ट्रीय ओपन स्कूल संस्थान के अध्यक्ष प्रो. एम.सी. पंत, सूचना प्रौद्योगिकी के प्रतिनिधि राजीव सांगल, कृष्णमूर्ति स्कूल की पूर्व प्रधानाचार्या प्रो. गीता अय्यन, वैज्ञानिक प्रो. नवज्योति सिंह, पत्रकार श्री राजन वेंकटेश आदि थे।

सम्मेलन में इस पर भी ध्यान आकृष्ट किया गया कि भारत के समकालीन शिक्षा-चिंतकों श्री अरविंद, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, महात्मा गाँधी, धर्मपाल आदि के विश्लेषणों, अनुशंसाओं का गंभीर अध्ययन करना चाहिए। इन महान चिंतकों और कर्मयोगियों को आज पुराने जमाने की चीज माना जाने लगा है, जिनके विचारों के बारे में प्राय: यह नकारात्मक टिप्पणी होती है, 'उनकी बातें सुनने में तो अच्छी लगती हैं, ठीक भी

प्रतीत होती हैं; किंत वह आज व्यवहारिक नहीं हैं'। यह एक भ्रामक धारणा है। क्योंकि जिस समय उन महापुरुषों ने अपने सुचिंतित विचार रखे थे, तब भी उनपर यही आपत्ति की जाती थी। अत: वास्तविकता तो यह है कि उन विचारों पर जो आपत्ति की जाती है, उसी संदर्भ में श्री अरविंद या कवि रवीन्द्र ने वे विचार प्रस्तुत किए थे। इस प्रकार, सच तो यह है कि उन्होंने जिन समस्याओं के संदर्भ में अपना चिंतन और कर्म रखा था वह वहीं समस्याएँ हैं जिनसे हम आज भी उलझ रहे हैं। केवल उन समस्याओं का रूप थोड़ा बदल गया है। इसलिए उन मनीषियों के विचारों को बिना सोचे-समझे अव्यवहारिक मान लेना बड़ी भारी भूल है।

संगोष्ठी में बच्चों को सिखाते हुए स्वयं सीखने के अनुभवों की भी चर्चा हुई। उन्हें ध्यान से, धैर्य से सुनने का महत्व रेखांकित किया गया। कुछेक प्रतिभागियों द्वारा कोरी भावुकता भरी, सुनी-सुनाई, नाटकीय-सी बातें भी कही गईं। उसमें अपने किसी प्रत्यक्ष अनुभव, गंभीर अवलोकन या सतर्क चिंतन के स्थान पर किन्हीं 'बेचारे' गरीब ग्रामीणों का उद्धार करने की उच्च-वर्गीय दयालुता, साधारण लोगों से दूरी, खुली-छिपी अंग्रेज़ियत अथवा एक रोमांटिक प्रयोग की युवा-सुलभ सुखानुभूति अधिक झलकती थी। ऐसे प्रतिभागी, विषय कुछ हो, एक ही बात बोलते थे। किताबी सी बातें जिसे सुनकर विश्वास की अनुभूति नहीं होती।

किंतु 'सिद्ध' के निदेशक पवन कुमार गुप्ता पूरी संगोष्ठी में हुई बातों पर, उठाए गए सभी बिंदुओं पर सजग दिखे। समापन सत्र में उनकी विस्तृत प्रस्तुति में फँसे होने की पीड़ा स्पष्ट थी। जिसे उन्होंने स्वयं संज्ञा दी: 'आधुनिकता और विकास की फँसावट'। उन्होंने माना कि जो अंग्रेजियत से लड़ने चले थे, उन वैकल्पिक शिक्षा की बात करने वाले स्कूलों में भी पढ़ाई का माध्यम अंग्रेजी हो गया है। प्राय: परिस्थितियों के दबाव से। भारतीय लोगों पर अभी भी विदेशी श्रेष्ठता का भूत हावी है। संभवत: इसीलिए वैकल्पिक विद्यालयों में कोई मामूली विदेशी भी कभी पढ़ाने या भाषण देने आ जाता है तो उसे बड़ी बात समझा जाता है। जबकि कोई अत्यंत महत्वपूर्ण भारतीय भी आए तो कुछ अंतर नहीं पड़ता। अर्थात वही चिरपरिचित ढलान। विदेशी लोगों, विचारों, संस्थाओं, माध्यमों और भाषाओं को अधिक उन्नत, समृद्ध मानकर अपने को उन्हीं के अनुरूप बनाने की प्रवृत्ति हमारे बड़े, छोटे सभी लोगों में हैं जिसका प्रभाव अंतत: विकल्प की तलाश करने वाले लोगों पर भी पड़े बिना नहीं रहता।

फिर भी पवन जी के अनुसार 'सिद्ध' प्रयोग कर रहा है, न समाधान तक पहुँचा है, न ही पूरी तरह अँधेरे में ही है। उसने अनुभवों से सीखा है। आगे रास्ता टटोल रहा है। उस पर विफलता का अन्य आक्षेप नहीं लगाना चाहिए। पीठ पीछे निंदा करने वाले लोग भीरू हैं, जो न तो स्पष्ट बात करते हैं, न समस्याओं से उलझना चाहते हैं। उनमें इस फँसावट को स्वीकार करने का साहस नहीं, इसलिए मात्र निंदा कर अपने कर्तव्य की इति समझते हैं। देश भर में ऐसे

बौद्धिक भरे हैं जो जहाँ बोलना चाहिए, वहाँ तो डरकर चुप रहते हैं। मुँह-देखी, चापलूसी या खाना–पूरी करते हैं। पवन जी के अनुसार हम सब 'छोटे पंडित नेहरू' हैं। दूसरों की नकल करते हैं, अपना कुछ नहीं। "सुविधा–संग्रह की गुलामी में हम सब फँसे पड़े हैं। टेक्नोलॉजी और व्यवस्था की गुलामी में। किंतु हम सब का लक्ष्य स्वतंत्रता है।" इसलिए प्रश्न तो अवश्य उठने चाहिए, किंतु उनका आग्रह है: मन में उठे सच्चे प्रश्न ही सामने रखने चाहिए और वैकल्पिक शिक्षा के प्रयत्न करने वालों के प्रति थोड़ी सहानुभूति भी रहनी चाहिए।

वैकल्पिक शिक्षा के प्रयोग में ऐसे लोगों के सहयोग की अपेक्षा की जाती है जिन्हें भारतीय परंपरा की चेतना, आधुनिकता की समझ और सत्यनिष्ठा हो। इन तीन मूलाधारों पर वैकल्पिक शिक्षा के उपाय में देश भर से सहयोगी जुटाने के प्रयत्न सफल हो सकते हैं। किंतु समस्या यह है कि अनेक धारणाएं गड्ड–मड्ड हो गई हैं। आज स्वतंत्रता और फ्रीडम, सुख और सुविधा, जानना और समझना जैसे दो भिन्न अर्थ वाले शब्द एक बना दिए गए हैं। इन्हें अलग करना नितांत आवश्यक है। प्रो. रिनपोछे ने इस पर तीखे ढंग से ऊँगली रखी, "शिक्षा और एजुकेशन एक चीज नहीं है। साइंस और विज्ञान एक ही बात नहीं है। आज शब्दों का अपहरण हो गया है। हमने अपने शब्दों की अनमोल अवधारणाओं को त्याग कर उसमें पश्चिमी शब्दों के अर्थ डाल दिए गए हैं।" यह एक भयंकर दुर्घटना हुई है, जिससे प्राय: हम समस्या ही नहीं समझ पाते।

प्रो. रिनपोछे का ज्ञान और अनुभव वैकल्पिक शिक्षा के ऐसे प्रयत्नों की पुष्टि करता है, "संपूर्ण व्यवस्था परिवर्तन की बात निरर्थक है। स्थानीय स्तर पर छोटे-छोटे प्रयोगों से ही कुछ परिणाम आएगा।" वह उपाय की ओर बढ़ने का गूढ़ संकेत भी देते हैं, "धारा के विरुद्ध न चलिए। नदी से हट जाइए और अपने मार्ग पर चलिए।" क्या इस संकेत से वैकल्पिक शिक्षा की दिशा मिलेगी? समय ही बताएगा।

◆ ◆ ◆ ◆ ◆